अनेकान्त

स्याद्वाद

अनेकान्त और स्याद्वाद

जैन आगमशास्त्र व्यवहार और निश्चय इन दो धर्मचक्रो पर आरूढ़ होकर मार्गदर्शन कराता है। जब वह व्यवहार का आश्रय लेता है, तब 'स्यात् अस्ति, 'स्यात् नास्ति', 'अवक्तव्य' इत्यादि अनेकान्त वस्तु धर्म का उत्तम प्रतिपादन करता है यह प्रतिपादन ससार क सविकल्प दृष्टिकोण से समीचीन है। निश्चयरूप से निर्विकल्प अवस्था मे आत्मा के समुपासन को सर्वोपरि निरूपण करता भी अपने आप मे पूर्ण है।

यह अनेकान्तवाद 'स्यात' पद से व्यक्त किया जाता है और वस्तुनिष्ठ अनतता का प्रकाशक है, क्योकि सामान्य-से-सामान्य वस्तु मे, रत्त:कण मे भी अनेक गुणधर्म विद्यमान है। अनेकान्तवाद स्याद्वाद वस्तु एव तत्वज्ञान का यथार्थ निर्णायक है। सर्वोच्चन्याय उसकी तुला है, जिसकी माप कभी अशुद्ध नही होती। सच यह है कि अनेकान्तवाद विश्व-जीवन का निष्पक्ष निर्णायक है। उसके निर्णय पक्ष-विपक्ष के मोह के ऊपर उठ कर होती है। यही उसका गौरवपूर्ण शानदार अध्याय है।

[सत्य जानने की पद्धति]

अनेकान्त–सप्तभंगी–स्याद्वाद

लेखक—

मुनि विद्यानन्द

भेंटकर्ता–

श्री मूल चन्द जैन

२७४ सरकुलर रोड

मेरठ छावनी

महावीर जयन्ती
३१ मार्च, १९६१

मूल्य—
भावात्मक एकता

प्रकाशक—
राजेन्द्र कुमार जैन
प्रधान मंत्री
श्री जैन सभा
६६ तीर गरान स्ट्रीट,
मेरठ शहर (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण २०००
महावीर निर्वाण सम्वत् २४६५

मुद्रक
नवयुग प्रेस,
मेरठ कैंट।

प्रस्तावना

जैनदर्शन वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान का दर्शन है। किसी पूर्वाग्रह अथवा हठवाद को इसमें स्थान नहीं। विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्‌वाद तथा प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व इस दर्शन का मुख्य विषय है। मन, वचन और काय से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है। अहिंसा का आधार यह है कि प्राणीमात्र सुख चाहता है, जीवन चाहता है और पीड़ा, त्रास, उत्पीडन, भय, शोक, आदि से बचना चाहता है। संसार के मांसाहारी जीव भी भले ही, दूसरे जीवों की हिंसा करें, स्वयं की हिंसा नहीं चाहते। इसका आशय यह हुआ कि मूलतः वे अहिंसा प्रिय हैं। तथापि ऐसे हिंसक पशु अपने में परिवर्तन नहीं पाते। परन्तु मनुष्य तो विवेकशीलों का अग्रणी माना जाता है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जैसे हिंसा मुझे प्रिय नहीं वैसे वह अन्य को भी रुचिकर नहीं हो सकती तब वह अहिंसा के कल्याणकारी पक्ष को जानकर उस पर आचरण करता है। अहिंसा को सर्वात्मना स्वीकारने पर मनुष्य में सहअस्तित्व का भाव जागृत होता है। परस्पर निर्वैर भाव से संसार में रहने की कला अहिंसा से ही प्रकट होती है। जैन तीर्थंकरोंने और आचार्यों ने तो अहिंसा को ब्रह्मपदवी दी है। 'स्वयम्भुस्तोत्र' में श्रमण संस्कृति के अमर-गायक आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं'—११६॥ वास्तव में अहिंसा परमात्मस्वरूप है, अहिंसा वीतरागमय आत्मा का स्वभाव है। इससे उनका आशय यह प्रतीत होता है कि अहिंसा ब्रह्म के समान शुद्ध है। चैतन्य स्वरूप मनुष्य को परमात्मा होने की क्षमता अहिंसा द्वारा प्राप्त होती है अथवा अहिंसा की उपासना परमेश्वर की उपासना है। अहिंसा में राग द्वेष का अभाव है और राग द्वेष रहित परणति ही वीतरागता है, यह वीतराग भाव ब्रह्म-परब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। अतः अहिंसा का यशोवर्णन इह-पर उभयलोक के श्रेयः साधन में अनुपम है। सच्चे अहिंसक की उपस्थिति में हिंसा के भाव लुप्त हो जाते हैं। प्राणिदया, समभाव तथा आत्मशांति की प्राप्ति अहिंसा द्वारा सम्भव है।

अहिंसा से दया, करुणा विश्वमैत्री तथा प्राणीमात्र के प्रति समत्व का विचार उत्पन्न होता है। यह आचार का निरवद्य मार्ग है। इसमें घृणा द्वेष, असन्तोष तथा परपीडा को अणुमात्र भी स्थान नहीं। अनेकान्त दर्शन इस अहिंसा को पुष्ट करने वाली विचारधारा है। अनेकान्त का अभिप्राय है— अनेक धर्म वाला पदार्थ। वस्तु सर्वधर्ममय नहीं अनेक धर्ममय है। उसे सर्वथा एक धर्मात्मक भी नहीं कहा जा सकता। यथा—अग्नि, जल, आदि। अग्नि ज्वलनशील है, प्रकाशप्रद है, उष्ण आदि गुण वाला है। जल शीतल है, प्रवाहयुक्त है, रूप, रस, गंध, वर्णयुक्त है, भारी है, हलका है, पुद्गल है इत्यादि। प्रत्येक पदार्थ इसी प्रकार विविध स्वधर्म गुणों का निकाय है। यदि उसे किसी एकधर्म से अविच्छिन्न और कूटस्थ माने तो इतर विद्यमान धर्मों को अस्वीकार करना होगा। स्वीकारने अथवा अस्वीकारने मात्र से पदार्थों का निर्णय सिद्ध नहीं होता। जब वस्तु स्वयं अपने अनेक धर्मों की विद्यमानता का डिंडिम-घोष कर रही है, उसे नकारने का अयुक्त साहस कौन करेगा। धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक न्याय ग्रंथ में इस बात को स्वीकार किया है—"यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ? २-२०८।" "यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते है ?" अनेकान्त दर्शन इसी वस्तुगत सद्भूत मान्यता पर अवस्थित है। उस अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के वाचिक विधान को 'स्याद्वाद' कहते हैं।

'स्यात्' विधिपरक अव्यय है। एकवाक्यता में जब वस्तु के अनेक धर्मो का कथन नहीं किया जा सकता तब उसके निर्वचन व्यवहार को अबाधित करने के लिए 'स्यात्' पद की योजना सहायक सिद्ध होती है। जैसे—यह मणि है, प्रकाशमान है, शुक्लवर्ण, बहुमूल्य है आदि। मणिगत इन स्वधर्मों को भी युगपत् (एक साथ) कहना शक्य नहीं। 'स्यात्' जिसका अर्थ 'कथंचित्' (किसी एक अपेक्षा-दृष्टिकोण से) होता है, इन अनेक धर्मो की अभिव्यक्ति में साहाय्यकारी होता है। स्यात् यह प्रकाशमान है, 'स्यात्' यह बहुमूल्य है।

पदार्थ के साथ इस स्यात् पद के सात भंग हैं। इन भंगों को 'सप्तभंग' कहते है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यावद्क्तव्य इत्यादि आपेक्षिक भंगों द्वारा पदार्थ स्थित अनेकान्त को स्फुट करना सप्तभंग का विषय है। इस अनेकान्त दर्शन से मनुष्य में सद्विचार का आविर्भाव होता है और पूर्वाग्रह अथवा एकान्त हठवाद का अन्त हो जाता है। अनेकान्त दृष्टिमान यह विचारता है कि पदार्थ में एक मात्र वही गुण-धर्म नहीं है, जिसे मैं जानता हूँ अपितु दूसरा व्यक्ति उसमें जिस अपर

गुण की स्थिति बता रहा है, वह भी उसमें है। यह विचारों की प्रांजलता, दर्शन की व्यापकता तथा सहिष्णुता को प्रसारित कर समन्वय मार्ग को प्रशस्त करता है।

वास्तविकता तो यह है कि जब पदार्थों में अनेक धर्मों का अस्तित्व विद्यमान है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? अनेकान्तदर्शन इसी सद्भूत मान्यता पर आधारित है। उस अनेकान्त को व्यक्त करने की विधि का नाम स्याद्वाद है।

'जय प्रकाश बाबू जैन दर्शन के स्याद्वाद के सप्तभंगी न्याय का एक उत्तम उदाहरण हैं। जैन लोग हर वस्तु के बारे में कहते हैं 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' यानी हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।'

—'दैनिक हिन्दुस्तान (दिनांक २ जनवरी १९६९) सम्पादक विद्याश्रमी श्री रतनलाल जोशी

'स्यात् यह मनुष्य काला है' इस पद में 'स्यात् पद होने से मनुष्य शरीर के और विभिन्न गुण (जैसे रक्त लाल है, हड्डी सफेद है) वक्ता के विवक्षित विषय न होने से गौण हो जाते हैं और विवक्षित काला रंग मुख्य हो जाता है। 'स्यात् पद सुनिश्चित वाचक है और अपेक्षा को लिये हुए है संशयवाचक नहीं। यह समझे बिना स्याद्वाद सिद्धान्त को श्री जय प्रकाश बाबू के अनिश्चयवाद के साथ जोड़ना 'स्याद्वाद' के प्रति भ्रम फैलाना है।—

'न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासुराः।
युक्तिमद् वचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधैः॥'—

—विष्णु पुराण, ३-१८-३०

हे ज्ञानबन्धुओं! आप्तवचन आकाश से नहीं गिरा करते। जो युक्तिपूर्ण वचन हो उसे मुझे तथा आपसदृश इतरों को ग्रहण करना चाहिए।

ऋषभदेव जयन्ती
चैत्रवदी ९

—मुनि विद्यानन्द

अनुक्रमणिका

जैन-दर्शन की प्राचीनता

'भारतीय विचारधारा हमें आदिकाल से ही दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है। पहली विचारधारा परम्परामूलक, ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी रही है। जिसका विकास वैदिक साहित्य के वृहत् स्वरूप में प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमण प्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रधानता दी गई। ये दोनों विचारधारायें एक दूसरी की प्रपूरक भी रहीं और विरोधी भी। इस राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने में उन दोनों का समानतः महत्वपूर्ण स्थान है। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा का जन्म पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और दूसरी श्रमण-प्रधान विचारधारा का उद्भव आसाम, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के व्यापक अंचल में हुआ। श्रमण-प्रधान विचारधारा के जनक थे जैन।

—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ८६।

"......मोहनजोदारो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग मे व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैन धर्म का विशेष योग रहा है।"

—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६३।*

'उन्होंने (श्री रामप्रसाद चन्दा) ६ अन्य मुहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F. G. H. फलक दो पर अंकित देव-मूर्ति में एक बैल ही बना है; सम्भव है कि यह ऋषभ ही का पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्र-युगीन सिन्धु सभ्यता

* लेखक—वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन (१९६२ संस्करण) १५ ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद।

तक चला जाता है। इससे सिन्धु-सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी उभय सामान्य सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है।'

—'हिन्दु सभ्यता' (राधामुकुन्द मुकर्जी) राजकमल प्रकाशन, पृ० २३ ॥

'... ..विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धुघाटी की सभ्यता में मिली योगि-मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों मे ऋषभ तथा अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णुपुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।*

—भारतीय इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १६६।

'......वस्तुत: जैन धर्म संसार में मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने के बहुत ही पहले से यहाँ में जैन धर्म प्रचलित था। खूब सम्भव है कि प्राग्वैदिकों मे शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।"

—उड़ीसा में जैन धर्म, नीलकण्ठ दास भुवनेश्वर, पृ० प्रस्ता० ७, प्रकाशन, अ० विश्व जैन मिशन १६५८।

'......वैदिक युग में भी श्रमणों की सख्या काफी थी और अनुमान यह है कि श्रमण संस्कृति आर्यों के आगमन के पूर्व से ही इस देश मे विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे।'

—संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर पृ० १२१।

'कुमार: श्रमणादिभि:'—(अष्टाध्यायी २।१।७० पाणिनि:) ||

(येषां च विरोध: शाश्वतिक:' इत्यस्यावकाश: श्रमणब्राह्मणम्।

(भाष्य २।४।६) पाणिनि के इस सूत्र का यह उदाहरण है। जिनका नित्य विरोध हैं, यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ विरोध शाश्वतिक है, किसी हेतु विशेष से समुत्पन्न नहीं। शाश्वतिक विरोध सैद्धान्तिक ही हो सकता है। क्योंकि निमित्त जन्य विरोध निमित्त दोष परिहार होने पर समाप्त हो जाता है। परन्तु महर्षि के 'शाश्वतिक' पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणों तथा ब्राह्मणों का कोई विरोध है जो शाश्वतिक (सनातन है)। इस आशय से यह निर्णय लिया जा सकता है कि ब्राह्मण वैदिकधारा

---

* डॉ० विशुद्धानन्द पाठक एवं डॉ० जयशंकर मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी।

का प्रतिनिधित्व करते हुए एकेश्वरवाद तथा ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तथा श्रमण परम्परा अनेकेश्वर अथवा अनेकान्तवाद के साथ तप से, श्रम से जिसकी मूल संगति आचार (सम्यक् चारित्र) के साथ मोक्ष मानते हैं। यही इनका शाश्वतिक विरोध है। वास्तव में तो ज्ञान और क्रिया का एकायन ही मोक्षहेतु है। 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्षः' इति सर्वज्ञोपदेशः।'

—सूत्रार्थमुक्तावली ४५।

''श्रमणों[1] और ब्राह्मणों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व लगभग शाश्वत काल से था। जैसा हम देख चुके हैं ऋग्वेद से भी यह ज्ञापित होता है।''

—पृष्ठ १२

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका

'सब जीवों के साथ सहानुभूति तथा दया रखना जैन धर्म का प्रधान सिद्धान्त है। 'अहिंसा परमो धर्मः' ही जैनदर्शन का मूल मन्त्र है। जैन दर्शन सब मतों के लिये आदर दिखलाता है। जैन धर्म में अन्य धर्मों अथवा मतों के लिये सहिष्णुता पाई जाती है। जैन दार्शनिकों का यह मत है कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने से अनन्तरूप हो सकता है। अतएव हमें अपने ज्ञान तथा विचार की सीमाओं को ध्यान में रखते हुये किसी खास मत को ही बिल्कुल सच्चा या झूठा नहीं मान लेना चाहिये। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सब धर्म किसी अंश में सत्य है।'

—विश्वधर्मदर्शन पृष्ठ १५७, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
ले० सांवलिया बिहारीलाल वर्मा

---

१ "तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः
अनातुरा अजराः स्थामीवष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः॥"

—ऋग्वेद १०।९४।११

सत्य जानने की पद्धति

'धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥'

—लघीयस्त्र १ ।

—धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, स्याद्वाद के संस्थापक ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त[1] हुये चतुर्विंशति जिनेन्द्रों को स्वात्मा की प्राप्ति के लिये बारम्बार नमो नमः ।'

'लोक त्रयैकनेत्रं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकल नय विलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' १ ।

नेत्र के समान जो त्रिलोकवर्ती पदार्थों को जानने वाला है, जन्मान्ध पुरुषों की हाथी के विषय में की गई अधूरी कल्पनाओं को दूर करने वाला है, समस्त नयों (एकांगी ज्ञानों) के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है, ऐसे अनेकान्तवाद स्याद्वाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिस तरह जैन धर्म का उदयकाल सबसे पुरातन है, जिस तरह उसने विश्वकल्याण के लिये अहिंसा सिद्धान्त को आचरणीय बतलाया है, उसी तरह मत-मतान्तरों के पारस्परिक वाद-विवादों को दूर करने के लिये उसने अनेकान्तवाद वा स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुपम प्रतिपादन किया है।

भिन्न-भिन्न दृष्टि कोण (पोइन्ट आफ व्यू) से पदार्थों को जानकर मत-मतान्तर अपने एकांगी ज्ञान को ही पूर्ण सत्यज्ञान मानकर दूसरे मत के सिद्धान्त को असत्य बतलाते हुए परस्पर वाद-विवाद करते हैं। जिस तरह—

एक गाँव में ६ जन्म से अन्धे पुरुष रहते थे नेत्रों में ज्योति न होने से वे सब वस्तुओं को अपने हाथों से टटोलकर जाना करते थे, कि अमुक वस्तु ऐसी होती है।

---

१ 'यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभ वर्धमानादिः ।
दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च ॥'

—बौद्ध ग्रंथ न्याय विन्दु टीका ।३।१३१॥

एक दिन उस गाँव में एक हाथी आया। गाँव वाले स्त्री पुरुष बच्चे हाथी को देखने के लिये दौड़े, वे अन्धे भी हाथी का आकार प्रकार (शक्ल सूरत) जानने की इच्छा से वहाँ पहुँचे। गाँव वालों ने अपनी आँखों से हाथी देखकर जान लिया कि वह बहुत बड़ा अद्भुत आकार (विचित्र शक्ल) का चौपाया पशु है। वे अन्धे उस हाथी का शरीर हाथों से छूकर जानने लगे।

एक अन्धे ने हाथी का कान पकड़ा उसने समझ लिया कि हाथी अनाज फटक कर साफ करने वाले सूप के समान होता है। दूसरे अन्धे ने हाथी का दाँत जा पकड़ा, उसने समझ लिया कि हाथी का आकार दीवाल में गढ़ी हुई बहुत बड़ी खूंटी के समान होता है। तीसरे ने हाथी की सूंड जा टटोली तो उसने समझ लिया कि हाथी केले के पेड़ की तरह होता है। चौथे अंधे ने हाथी का पैर हाथों से छुआ तो वह समझ बैठा कि हाथी खम्भे के समान होता है। पाँचवें अंधे ने उसके पेट पर हाथ फेरा तो उसने समझा कि हाथी भैंस के पेट की तरह बड़ा लम्बा चौड़ा होता है और छठे अंधे ने हाथी की पूँछ अपने हाथों से जा पकड़ी तो उसकी विचारधारा में यह बात समा गई कि हाथी का आकार डण्डे के समान होता है।

हाथी तो थोड़ी देर पीछे वहाँ से चला गया परन्तु उन अंधों के हृदय में अपने भिन्न-भिन्न तरह के आकार पैदा कर गया। अतः हाथी चले जाने पर वे अंधे आपस में बातें करते हुए अपने-अपने हाथों से टटोल कर जाने हुए आकार प्रकार को ही हाथी का पूरा आकार ठीक समझकर दूसरे अन्धो की जानी हुई हाथी की शक्ल को असत्य समझने लगे। इसलिये उनमें से कोई कहता कि हाथी सूप के समान होता है, दूसरा कहता कि तू असत्य बोलता है, हाथी तो बड़ी खूंटी की तरह होता है, तीसरे ने कहा कि तुम दोनों झूठ बोलते हो, हाथी तो केले के पेड़ की तरह होता है। चौथा बोला कि तुम तीनों का कहना गलत है हाथी तो लकड़ी के खम्भे के समान होता है। पाँचवां बोला कि तुम चारों असत्य कहते हो हाथी की सूरत भैंस के पेट की तरह होती है। छठा अंधा बोला कि तुम पाँचों झूठे हो, हाथी तो डण्डे की तरह होता है।

इस तरह अपनी बात को ही सत्य समझकर वे छहों अंधे परस्पर में झगड़ने लगे-दूसरों को झूँठा कहने लगे।

उस समय वहाँ एक सज्जन आया उसने उन अन्धों का झगड़ा सुना उसने उन अन्धों को शान्ति से समझाया कि सूरदासो, जैसे तुम्हारे शरीर में कान, दाँत, नाक, पेट, पैर आदि अंग हैं, सब अंगों को मिलाकर तुम्हारा शरीर बना हुआ है। उसी तरह हाथी के भी ये सब अंग होते

हैं। एक पूंछ और होती है। तुम सबने उसका एक-एक अंग ही हाथ से छुआ है; इसलिये तुम उसको उतना ही हाथी समझ रहे हो। तुम सबका जानना सत्य हो सकता, यदि तुम 'ही' के स्थान पर 'भी' लगा दो।

यानी—तुम यह कहना छोड़ दो कि 'हाथी सूप-सा ही या खम्भे-सा ही होता है' इसकी बजाय ऐसा कहो कि हाथी (कान की अपेक्षा) सूप सरीखा भी है, हाथी (पैरों की अपेक्षा) खम्भे-सा भी है, हाथी (सूँड की अपेक्षा) केले के पेड़-सा भी है आदि। इस तरह 'ही' लगाना छोड़कर अपनी बात में 'भी' लगाकर कहोगे तो तुम सब सच्चे हो जाओगे।

उस सज्जन की बात सुनकर उन अन्धों ने अपनी गल्ती समझली और अपना-अपना एकान्त हठ छोड़ दिया। इस तरह उनका आपसी झगड़ा मिट गया।

ठीक, इसी तरह संसार के सभी मत-मतान्तर पृथक् पृथक् एकान्त हठ पकड़ कर दूसरे को झूठा बतलाकर परस्पर झगड़ते हैं, बहुत वाद-विवाद करते है। यदि वे अपनी 'ही' को छोडकर 'भी' लगाने लगें तो जहाँ उनका आपसी झगड़ा दूर हो जावे वहीं उनको पदार्थों का सर्वान्श-ज्ञान भी होने लगे।

इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त संसार के समस्त आपसी वाद-विवादों को दूर कर देता है। वह सबको 'ही' छोड़कर 'भी' लगाने की प्रेरणा करता है। इन पारस्परिक विचारों सिद्धान्तों का विवाद दूर करने में जैन धर्म का अनेकान्त या स्याद्वाद सिद्धान्त सफलता प्राप्त करता है।

इस अनेकान्त या स्याद्वाद सिद्धान्त को स्पष्ट तथा सुगम करने के लिये इसे अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्त-भंगी, प्रकरणों में रखते हैं।

———

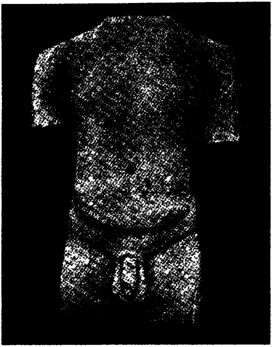


FIRST TIRTHANKAR LORD RISHABDEV — LAST TIRTHANKAR LORD MAHAVIR

(By Curtsy British Muesuem London)

"There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhmana or Parsvanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha. Ajitnath and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism."

DR. S. RADHAKRISHNAN
Indian Philosophy Vol I. P. 287



उपलब्ध १९१२ ई०

हड़प्पा से प्राप्त नग्न मूर्त्ति की तुलना लुहानीपुर (पटना) से प्राप्त मौर्य एव शुङ्ग-कालीन जिन मूर्तियों से करके डा० जायसवाल ने उनका साम्य दर्शाया था और उनके पुरातत्त्व विभागाध्यक्ष श्री टी० रामचन्द्रन् उसे जिनमूर्ति ही मानते है।

—आदि तीर्थंकर भ० वृषभदेव
पृ० १३८ डा० कामता प्रसाद जैन

अनेकान्त[1]

इस जगत में अनन्तानन्त चेतन पदार्थ (जीव) हैं और अनन्तानन्त जड़ (अजीव) पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों (शक्तियों) तथा अनन्त विशेषताओं का पुंज है। सूक्ष्म परमाणु (Atom) में भी अनंत शक्तियाँ निहित हैं। परमाणु की शक्ति से विशाल नगरों का विध्वंस क्षण भर में किया जा सकता है और विशाल परिमाण में विद्युत (बिजली) उत्पन्न करने वाले बिजली घर का संचालन किया जा सकता है, भीमकाय जल-यान (पानी के जहाज, पनडुब्बी, नाव आदि) परमाणु की शक्ति से चलाये जा सकते हैं। एक परमाणु में जब इस प्रकार की विध्वंस, निर्माण, संचालन, प्रेरण आदि रूप असीम शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सिद्ध होती हैं, तब अन्य विशाल जड़ चेतन पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का भी इससे अनुमान किया जा सकता है।

अग्नि लकड़ी को जलाकर भस्म करती है, सोने को गलाकर शुद्ध करती है, रोटी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप बनाती है, अशुद्ध धातु पात्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश करती है, इत्यादि अनन्त प्रकार की विशेषताएँ अग्नि में विद्यमान हैं।

ऐसी ही अनन्त शक्तियाँ, गुण या विशेषताएँ, जल, वायु तथा पार्थिव पदार्थों में विद्यमान हैं। ये भौतिक (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य) पदार्थ उन परमाणुओं के सम्बद्ध समुदाय से बना करते हैं, जिनकी शक्ति परमाणु बम, परमाणु बिजलीघर आदि के रूप में पहले बतलाई जा चुकी है।

पौद्‌गलिक (मैटीरियल) जड़ पदार्थों के सिवाय अमूर्तिक (नान मैटीरियल) जड़ पदार्थ और भी हैं, जिनको धर्म (ETHER)—(क्रियाशील-अनन्त पदार्थों की हलन चलन रूप क्रिया में सहायक) अधर्म—(स्थितिशील अनन्त पदार्थों को स्थिति-ठहरने में सहायक),

---

१. 'पहिले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।'

—महात्मा गांधी, (हरिजन २१-७-४६)

आकाश (समस्त पदार्थों के लिये स्थानदाता) काल (समस्त-अनन्तों पदार्थों के प्रतिक्षणवर्ती परिणमन में सहायक), नाम से कहा जाता है। उन अमूर्तिक जड़ पदार्थों में से प्रत्येक में भी परमाणु या भौतिक पदार्थों के समान अनन्त शक्तियाँ विद्यमान है। जिससे कि इस विश्व जगत का ढांचा सूक्ष्म रूप से विविध परिणमन कर रहा है। स्थूल दृष्टि, विचार शक्ति सहसा उसको न जान सके किन्तु सूक्ष्म विचार से तो उनको जाना ही जाता है।

जड़ पदार्थों के समान चेतन पदार्थ-जीव भी संख्या में अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक चेतन पदार्थ भी, वह चाहे छोटा प्रतीत हो या बड़ा, अनन्त शक्तियों का पुंज है। ज्ञान-दर्शन, सुख, बल, श्रद्धा, समता, क्षमता, मृदुता आदि अनन्त प्रकार के गुण या शक्तियां तथा विशेषताएँ प्रत्येक जीव में विद्यमान (मौजूद) है।

यानी—जगत का कोई भी पदार्थ क्यों न हो वह अनन्त-गुणात्मक है। उन अनन्तगुणों का परिणमन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप में प्रतीत होता है।

जल किसी प्यासे मनुष्य की प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजा के रोगी) को प्यास बुझाकर मार देता है, स्नान के रूप मे स्वस्थ मनुष्य को जल स्फूर्ति, आनन्द देता है, दाह ज्वर वाले मनुष्य को वही जल स्नान सन्निपात लाकर मृत्यु के निकट पहुँचा देता है। इस तरह जल जीवन दाता अमृत रूप भी है और मारक विष रूप भी है।

दूध शरीर के लिये सर्वोत्तम पोषक पदार्थ है, तत्काल के उत्पन्न बालक, शिशु का जीवन तो दूध के आधार पर निर्भर है। किशोर यौवन, प्रौढ़, वृद्ध दशा में भी दूध शरीर का अच्छा पोषण करता है, इसी कारण दूध को अमृत भी कहा जाता है। परन्तु वही दूध अतिसार (दस्त) के रोगी को दिया जावे तो वही दूध उसके लिये विष के समान हानिकारक होता है।

ऐसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने वाली अनेक प्रकार की विशेषताएं प्रत्येक पदार्थ में एक साथ होती हैं।

जैसे, राम राजा दशरथ के पुत्र थे किन्तु लवणांकुश (लव कुश) के पिता थे, लक्ष्मण के भाई थे, सीता के पति थे, जनक के जामाता

(दामाद) थे, भामण्डल के बहनोई थे। इस तरह एक ही राम पुत्र पिता, भाई, पति, दामाद, बहनोई आदि अनेक रूप थे।

इसी प्रकार प्रायः अन्य प्रत्येक मनुष्य भी पिता, पुत्र, बाबा, पोता, पति, पुत्र, श्वसुर जमाई, साला, बहनोई आदि अनेक सम्बन्धों का समुदाय होता हैं।

इन अनेक प्रकार की विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेके अन्ताः—धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः) रूप में पाया जाता है। जो धर्म-विशेषताएं परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होती हैं (जैसे पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है, जो साला है वह बहनोई कैसे हो सकता है, जो पति है वह पुत्र कैसे हो सकता है इत्यादि) वे ही विशेषताएं एक ही पदार्थ में ठीक सही तौर पाई जाती हैं। पदार्थ की इस अनेक-रूपता-धर्मात्मकता का बतलाने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद कहलाता है।

हम हाथी का चित्र पीछे की ओर से लें तो उसकी फोटो में पिछले पैर और पूँछ ही दिखाई देगी, सामने से फोटो खींचेंगे तो उसकी सूँड, दाँत, आँख, कान, मुख, अगले पैर चित्र में आवेंगे, यदि दांई ओर से फोटो खींची जाय तो हाथी की तस्वीर अन्य ढंग की होगी और बांयी ओर कैमरा लगाकर फोटो लेने से हाथी का चित्र पहिले तीन चित्रों से विलक्षण होगा। इस तरह एक ही हाथी का चित्र भिन्न-भिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, वे सभी चित्र परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण हैं परन्तु हैं सब सच्चे और एक ही हाथी के।

तर्जनी (अंगूठे की साथ वाली अंगुली) बड़ी भी है क्योंकि अँगूठे से तथा कनिष्ठा (पांचवी सबसे छोटी अँगुली) से लम्बाई में वह बड़ी है, परन्तु मध्यमा (बीच की अँगुली) से वह छोटी भी तो है। छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म उस एक ही तर्जनी अँगुली में पाये जाते हैं।

हमारा भारत देश हिन्द महासागर से उत्तर दिशा मे है, हिमालय पर्वत से दक्षिण में है, अरब देश से पूर्व में है और ब्रह्म देश (बर्मा) से पश्चिम में है। आकाश से नीचे की ओर है और पाताल से ऊपर की ओर है। इस तरह एक ही भारत देश विभिन्न छह दिशाओं से छह तरह का है, छह तरह से कहा तथा माना जाता है। परस्पर-विरोधी छहों बातें हैं बिल्कुल ठीक।

पाँच वर्ष का बच्चा अपने तीस वर्ष के पिता से छोटा भी है, क्योंकि उसका शरीर छोटा है, शरीर निर्बल है, बुद्धि अल्प है। परन्तु वही पाँच वर्ष का बच्चा अपनी दो वर्ष की बहन से बड़ा भी है। और

वास्तव में आयु की अपेक्षा देखा जावे तो वह पाँच वर्ष का बच्चा अपने ६५ वर्ष के बाबा (दादा) से ६० वर्ष तथा अपने पिता से ३० वर्ष बड़ा है क्योंकि उसके बाबा ने अपने आयु के ६५ वर्ष समाप्त कर दिये जबकि उस बच्चे ने अभी केवल पाँच वर्ष ही बिताये हैं। उसका पिता अपने जीवन के ३० वर्ष खो चुका जबकि उस बच्चे के केवल पांच वर्ष बीते हैं। यदि तीनों की आयु ८०–८० वर्ष हो तो उसका बाबा केवल १५ वर्ष और जीवेगा उसका पिता ५० वर्ष और जीवित रहेगा और वह बच्चा (बाबा और पिता से अधिक) ७५ वर्ष और जीवित रहेगा। किन्तु उसकी दो वर्ष की छोटी बहन ७८ वर्ष जीवेगी, इस कारण उस बच्चे से तीन वर्ष बड़ी है।

इस तरह एक ही पाँच वर्ष का बच्चा अपने बाबा, पिता और दो वर्ष वाली बहन से छोटा है और बड़ा भी है उसका छोटापन न कल्पित है, न उसका बड़ापन कल्पित है। दोनों ही धर्म यथार्थ हैं, वास्तविक हैं।

इस तरह किसी पदार्थ के स्वरूप की छानबीन की जावे तो वह अनेक धर्मात्मक (अनेक रूप का) सिद्ध होता है, एक धर्म रूप ही प्रमाणित नहीं होता। इस कारण जगत के सभी पदार्थ अनेकान्त रूप हैं, एकान्त (एक ही रूप) रूप कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल विचार से अनेकान्तवाद यानी अनेकान्त का सिद्धान्त यथार्थ एवं अकाट्य सिद्ध होता है।

जब हम कहते हैं कि "आत्मा नित्य है" उस समय हमारा दृष्टि-कोण (Point of View) मौलिक आत्म-द्रव्य पर होता है, क्योंकि आत्मा अभौतिक द्रव्य है अतः वह न तो अस्त्र-शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहता है।

परन्तु जब हम सांसारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव अवस्था) का विचार करते हैं तो आत्मा अनित्य सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा कभी मनुष्य भव में होता है, कभी मरकर पशु-पक्षी आदि हो जाता है। इस तरह एक ही आत्मा में नित्यता भी है और अनित्यता भी है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ में इसके लिये सुन्दर उदाहरण दिया है—

'एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।२२५।।

अर्थ—जिस तरह दही को मथकर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है, इसी तरह जैन पदार्थ निर्णय पद्धति (अनेकान्तवाद) पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्य करती है तो दूसरे को गौण (अमुख्य) कर देती है। (उसे सर्वथा छोड़ नहीं देती)।

इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक पदार्थों के किसी धर्म को मुख्य और अन्य धर्म को गौण करके विचार करने से तत्व का ठीक निर्णय होता है।

"भारत के महान संतों, जैसे जैन धर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भ० महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैन धर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है, और जैन धर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैन धर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है......

—श्री अनन्तशयनम् आयंगर
अध्यक्ष लोक सभा, नई देहली
१ अक्टूबर, १९५८, पुस्तक जैन धर्म

सप्तभंगी

'जो तच्च मणेयन्तं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्ह वसदो ववहार पवत्तणट्ठ च ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ॥३११॥

जो लोक प्रश्न वश से तथा व्यवहार सम्पादनार्थ अनेकान्त का श्रद्धान सप्तभंगी द्वारा नियम से करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।

समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्व द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से सत्स्वरूप हैं और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षया असत् स्वरूप है । यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाय तो किसी इष्ट तत्व की व्यवस्था नहीं बन सकती—

'स्यादस्ति स्वचतुष्टयादितरत स्यान्नास्त्यपेक्षाक्रमात्,
तत्स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत् सा स्यादवक्तव्यता ।
तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्त्याहिते,
वक्तव्ये गुणमुख्य भावनियत. स्यात् सप्तभंगी विधिः ॥
—श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रम् १० ॥

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य—ये सात भंग हैं । वक्तव्य में गौण और मुख्यभाव नियत करने वाली यह सप्तभंग विधि है ।

भग शब्द के भाग, लहर, प्रकार विघ्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहाँ पर प्रकार वाचक 'भंग' शब्द लिया है । तदनुसार वचन के भंग सात प्रकार के हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचन भंग नही होता । और सात से कम मानने से कोई न कोई वचन भंग छूट जावेगा ।[1]

इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के विषय में कोई भी बात कही जाती है वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती है या हो सकती है—१. 'है' (अस्ति) के रूप में, २. 'नही' (नास्ति) के रूप में, ३. न कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में ।

---

१ 'सप्तधैव तत्सन्देह समुत्पादात् ।
—स्याद्वादसिद्धिः ॥

किसी भी पदार्थ के विषय में सन्देह की उत्पत्ति सात प्रकार से ही हो सकती है ।

इन मूल तीन भंगों को परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि-संयोगी) रूप होते हैं—१. है और नहीं (अस्ति नास्ति) रूप, २. है और न कह सकने योग्य (अस्ति अवक्तव्य), ३. नहीं और न कह सकने के योग्य (नास्ति अवक्तव्य) रूप ।

एक भंग तीनों का मिला हुआ (त्रि-संयोगी) होता है—है, नहीं और न कह सकने योग्य (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) ।

इस तरह वचन भंग सात तरह के हैं, इन सातों भंगों के समुदाय को (सप्तानां भङ्गानां समुदायः सप्तभंगी) 'सप्तभंगी' कहते हैं । इस तरह स्यात् पद लगाकर उन सात भंगों के नाम यों हुए—

(१) स्यात् अस्ति, (२) स्यात् नास्ति, (३) स्यात् अस्ति नास्ति, (४) स्यात् अवक्तव्य, (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य, (६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य, (७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

(१) प्रत्येक वस्तु अपने (विवक्षित–कहने के लिये इष्ट) दृष्टि-कोण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा अस्ति (मौजूद) रूप होती है । जैसे—राम अपने पिता दशरथ की अपेक्षा 'पुत्र' है ।

(२) प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं की या अन्य (अविवक्षित) दृष्टिकोणों की अपेक्षा अभाव (नास्तित्व) रूप होती है । जैसे—राम राजा जनक (की अपेक्षा) के पुत्र नहीं है ।

(३) दोनों दृष्टिकोणों को क्रम से कहने पर वस्तु अस्तित्व तथा अभाव (अस्ति-नास्ति) रूप होती है । जैसे – राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं है ।

(४) परस्पर विरोधी (हैं तथा नहीं रूप) दोनों दृष्टिकोणों से एक साथ (युगपत्) वस्तु वचन द्वारा कहीं नही जा सकती क्योंकि वैसा वाचक (कहने वाला) कोई शब्द नहीं हैं । अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होती है । जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की युगपत् (एक साथ एक शब्द द्वारा) अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते ।

(५) वस्तु न कह सकने योग्य (युगपत् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य) होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) जैसे राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य)

(६) वस्तु अवक्तव्य (युगपत् कहने की अपेक्षा) होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप (स्यात् नास्ति अवक्तव्य) है । जैसे राम

युगपत् दशरथ तथा जनक की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं। (स्यात् नास्ति अवक्तव्य)।

(७) परस्पर विरोधी (है और नहीं रूप) दृष्टिकोणों से युगपत् (एक साथ एक ही शब्द द्वारा) अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) रूप होती है। जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपत् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य हैं) किन्तु युगपत् की अपेक्षा अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राम राजा दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभङ्गी प्रत्येक पदार्थ के विषय में लागू होती है। सप्तभङ्गी के लागू होने के विषय में मूलबात यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनुयोगी (अस्तित्व रूप) और प्रतियोगी (अभाव रूप-नास्तित्व रूप) धर्म पाये जाते हैं तथा अनुयोगी प्रतियोगी धर्मों को युगपत् (एक साथ) किसी भी शब्द द्वारा न कह सकने योग्य रूप अवक्तव्य धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। अनुयोगी, प्रतियोगी और अवक्तव्य इन तीनों धर्मों के एक सयोगी (अकेले-अकेले) तीन भंग होते हैं तथा तीनों का मिलकर त्रिसंयोगी भंग एक होता है। इस तरह सब मिलकर सात भंग हो जाते हैं।

आचार्य कहते हैं—'अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः'—सप्तविध-वाक् अक्षरों द्वारा व्यक्त है। यहाँ प्रथमा, द्वितीयादि सप्त विभक्तियाँ ही ज्ञातव्य नहीं हैं, अपितु वाक् की सप्तभंगिमा भी व्याख्यात हुई है। 'सप्त व्याहृति' वाणी का सप्तविध-संस्थान ही होना चाहिये। नहीं तो कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन आदि कारक कैसे सिद्ध कर सकोगे इसलिये सप्त-विध भंग ही शब्द शास्त्र से एवं वाणी से कथन करना सम्भव है। संगीत के स्वर और रवि, सोम, मंगल आदि भी तो सात हैं, सात संख्या महत्वपूर्ण है।



SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

'मोहनजोदारा के उत्खनन से प्राप्त भगवान् आदिनाथ विषयक एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा। वृषभनाथ दिगम्बर (नग्न, एवं ध्यानमुद्रा मे योगमग्न हैं। शिर पर त्रिशूल रत्नत्रय का प्रतीक चिह्न अंकित है। मृदुवाणी के प्रतीक कोमलता का एक पत्ता हैं। फलयुक्त कल्पवृक्ष-परिवेष्ठित तीर्थंकर वृषभदेव भक्त की भक्ति के अनुसार फल प्रदाता का प्रतीक है। भक्ति से करबद्ध प्रार्थना, नमस्कार निवेदन करते हुए चक्रवर्ती भरत महाराज और उनके पीछे भगवान का चरण-चिह्न बैल खड़ा है। नीचे की पंक्ति मे भरत सम्राट् के सप्तांग प्रतीक (१ राजा, २ ग्रामाधिपति, ३ जनपद, ४ दुर्ग, ५ भण्डार, ६ षडंगबल, ७ मित्र) पंक्तीबद्ध खड़े हैं।'

वृषभदेव— रायबहादुर श्री रामप्रसाद चन्दा

वृषभ [बैल]—'वृषाङ्कमुच्चैश्चरणे विभाति।'

—आचार्य जयसेन प्रतिष्ठा पाठ, श्लोक ५५३।

स्याद्वाद

'स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते ।
अहिंसायाः प्रधानत्वं, जैन धर्मः स उच्यते ॥'

जानने और कहने में बहुत भारी अन्तर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं उन ज्ञान अंशों के वाचक न तो उतने शब्द हैं और न उन सब ज्ञान-अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ (रसना) में है।

मोटा सा दृष्टान्त है कि हम अंगूर, आम, अनार खाकर उनके मिठास के अन्तर (मिष्ठता) को पृथक्-पृथक् यथार्थ कह नहीं सकते। किसी भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ के छूने, सूंघने, देखने, सुनने में जो आनन्द या दुख होता है, कोई भी मनुष्य उस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ठीक उसी रूप में मुख द्वारा कह नहीं सकता। परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) होने वाले विद्यार्थी को अपना परीक्षाफल जानकर जो हर्ष हुआ, उस हर्ष को हजारों यत्न करने पर भी वह ज्यों का त्यों कह नहीं सकता। गठियावात रोगी को गठियावात की जो पीड़ा होती है, उसे वह शब्दों द्वारा नहीं बतला सकता।

इस तरह एक तो जानने और कहने में यह एक बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे जितना विषय एक समय में जाना जाता है यदि उसे मोटे रूप से भी कहना चाहें तो उसके कहने में जानने की अपेक्षा समय बहुत अधिक लगता है। एक सुन्दर बाग का दृश्य देखकर जो उस बाग के विषय में एक ही मिनट में ज्ञान हुआ, उस सब जानी हुई बात को कहने में अनेक मिनट ही नहीं अपितु अनेक घण्टे लग जायेंगे क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने तथा नाक ने एक मिनट में जान लिया है, उनको जीभ एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक-एक करके कहा जा सकेगा।

इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितना त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती पदार्थों को युगपत् (एक साथ) जानता है, उसके अनन्तवें भाग विषय उनकी वाणी से प्रगट होता है। जितना दिव्य-ध्वनि से प्रगट होता है उसके अनन्तवें भाग चार ज्ञानधारक गणधर अपने हृदय में धारण कर पाते हैं। जितना विषय धारण कर पाते हैं उसका अनन्तवें भाग शास्त्रों में लिखा जाता है।

इस प्रकार जानने और उस जाने हुए विषय को कहने में महान् अन्तर है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असम्भव है।

अतः जिस पदार्थ के विषय में कुछ कहा जाता है तो एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं, किन्तु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं। जैसे कि जब यह कहा जावे कि 'राम राजा दशरथ के पुत्र थे।'

उस समय राम के साथ लगे हुए सीता, लक्ष्मण, लव-कुश आदि अन्य व्यक्तियों के पति, भ्राता, पिता आदि के सम्बन्ध कहने से छूट जाते हैं, जोकि यथार्थ हैं। यदि उन छूटे हुए संबंधोंका अपलाप कर लिया जावे (सर्वथा छोड दिया जावे) तो राम सम्बन्धी परिचय (जानकारी) अधूरा रह जायगा और इसी कारण वह कहना गलत (अयथार्थ) प्रमाणित (साबित) होगा।

इस गलती या अधूरेपन को हटाने के लिये जैन धर्म सिद्धान्त ने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द लगाने का निर्णय दिया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' यानी 'किसी दृष्टिकोण से' या 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात् जो बात कही जा रही है वह किसी एक अपेक्षा से (किसी एक दृष्टिकोण से) कही जा रही है, जिसका अभिप्राय यह प्रगट होता है कि यह विषय अन्य दृष्टिकोणों से या अन्य अपेक्षाओं से अन्य अनेक प्रकार भी कहा जा सकता है।

तदनुसार राम के विषय में यों कहेंगे—स्यात् (राजा दशरथ की अपेक्षा) राम पुत्र हैं। 'स्यात्' (सीता की अपेक्षा) राम 'पति' हैं। स्यात् (लक्ष्मण की अपेक्षा) राम भ्राता— भाई है।

स्यात् (लवांकुश की अपेक्षा) राम 'पिता' हैं।

स्यात् (राजा जनक की अपेक्षा) राम 'जामाता' (दामाद) हैं।

इस तरह 'स्यात्' शब्द लगाने से उस बड़ी भारी त्रुटि (गलती) का ठीक सुधार हो जाता है जो उपर्युक्त पाँच बातों में से एक ही बात कहने पर होती है।

यानी—राम 'पुत्र' तो हैं, किन्तु वे सर्वथा (हर तरह से) पुत्र ही नहीं हैं, वे पति, भाई, पिता, दामाद आदि भी तो है। हाँ, वे राजा दशरथ की अपेक्षा से पुत्र ही हैं। इस 'अपेक्षा' शब्द से उसके अन्य दूसरे पति, भाई, पिता दामाद आदि सम्बन्ध सुरक्षित रहे आते है।

स्यात् 'भारत (हिमालय की अपेक्षा) दक्षिण में है।

इससे यही ध्वनि निकलती है कि भारत देश सर्वथा (हर एक

तरह से सर्वथा) दक्षिण में ही नहीं है, अपितु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य दिशाओं में भी है।

तदनुसार—

स्यात् (हिन्द महासागर की अपेक्षा) भारत देश उत्तर दिशा में है।

स्यात् (अफगानिस्तान की अपेक्षा) भारतवर्ष पूर्व दिशा में है।

स्यात् (बर्मा की अपेक्षा) भारत पश्चिम में है।

इस तरह 'स्यात्' पद लगा देने से उस कही हुई बात के सिवाय उस पदार्थ सम्बन्धी अन्य बातों की सत्ता (सम्भावना) बनी रहती है।

स्यात् (त्रिकाल अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा) जीव नित्य है। इससे ध्वनित होता है कि जीव में नित्यता की तरह किसी अन्य दृष्टिकोण (अपेक्षा) से 'अनित्यता' भी पाई जाती है।

तदनुसार—'स्यात् (पर्याय की अपेक्षा—मनुष्य, पशु आदि नश्वर शरीरों की दृष्टि से) जीव अनित्य है।' इस सत्य बात की भी रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार स्यात् यह लगा देने से संसार के सभी सैद्धान्तिक विवाद शान्त हो जाते हैं।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन के फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चारों फोटो चार विभिन्न (अलग-अलग) तरह के आवेंगे। इस पर वे फोटोग्राफर अपने-अपने फोटो को ठीक बताकर परस्पर झगड़ने लगें कि 'मेरा फोटो ठीक है, तुम तीनों के फोटो गलत है।' तो उस विवाद का यथार्थ तथा चारों फोटोग्राफरों के लिये संतोषजनक निर्णय (फैसला) 'स्यात्' कोई एक (इष्ट) दृष्टिकोण कर सकता है। तदनुसार निर्णय दिया जायगा कि—

'स्यात्' (सामने की अपेक्षा) इस (भवन के सामने खड़े होकर खींचने वाले) फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। 'स्यात्' (पीछे भाग की अपेक्षा) पीछे से फोटो लेने वाले का फोटो ठीक है। 'स्यात्' (दाहिनी ओर की अपेक्षा) दाहिनी ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। 'स्यात्' (बांई ओर की अपेक्षा) बांई ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है।

इस तरह सबको सन्तोषजनक यथार्थ निर्णय 'स्यात्' लगाने से हो जाता है।

जगत के विभिन्न मत मतान्तर अपने-अपने एक-एक दृष्टिकोण ही को सत्य मानकर दूसरों के दृष्टिकोण से प्रकट की गई मान्यता असत्य

बतलाकर परस्पर विवाद करते हैं। उनका विवाद 'स्यात्' पद लगाकर दूर किया जा सकता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभंगी, स्याद्वाद के रूपान्तर हैं। स्याद्वाद एक वास्तविक अकाट्य सिद्धान्त है किन्तु यह दार्शनिक तर्क-विषय है, अतः कुछ कठिन है। अनेक व्यक्ति इसका स्वरूप ठीक न समझ सकने के कारण इसे गलत ठहराने का यत्न करते हैं। ऐसी त्रुटि साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् भी कर जाते हैं।

आचार्यबादरायण, श्री शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वान् भी स्याद्वाद को न समझ पाये, अतएव उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्य में "नैकस्मिन्नसम्भवात्"— ब्रह्मसूत्र २/२/३३॥

शांकरभाष्यम्—"निरस्तः सुगत समयः। विवसन[1] समय इदानीं निरस्यते।···अत्राचक्ष्महे— नायमभ्युपगमो युक्तः। कुतः? एकस्मिन्न सम्भवात्। न एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति, शीतोष्णवत्। य एते सप्त पदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वा इत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञान वन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेतिब्रूमः। निरंकुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्। स्यादस्ति स्यान्नास्ति-इत्यादि विकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैवस्यात्। एवं निर्धारयितु निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तितास्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारिता सूपदेष्टुं शक्नुयात्? कथवा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टे ऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्? ऐकान्तिकफलत्व निर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वोलोकोऽनाकुलः प्रवर्तते, नान्यथा। अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन मत्तोन्मत्तवदनुपादेय वचनः स्यात्। तथा पंचानामस्तिकायानां पंचत्वसंख्याऽस्ति वा नास्तिवेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन् पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादि त्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं सम्भवति। अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्तेचावक्तव्याश्चेति विप्रतिपिद्धम्। उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च। तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्तिवा? एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्तिवेति। प्रलपन मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्यायि-

---

१. विवसन विगतं वसनं यस्य स विवसन। निर्वस्त्र, नंगा। नग्न जैनसाधु।— संस्कृत हिन्दीकोष, आप्टे पृ० ९५३॥

तव्यपक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षेभाव: पक्षेचाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षेचानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्ध जीव प्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसंग:। एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्वासत्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसम्भवात्सत्वे चैकस्मिन् धर्मेऽसत्वस्य धर्मान्तरस्यासम्भवादसत्वे चैवं सत्वस्यासम्भवादसंगतमिदमार्हतमतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यने-कान्ताभ्युपगमानिराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाता: सम्भवन्ति इति कल्पयन्ति, तत्पूर्वेणैव अणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवति इत्यतो न पृथक् निराकरणाय प्रयत्यते।"

अर्थ—'नैकस्मिन्नसम्भवात्'— सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं—बौद्धमत का निराकरण किया जा चुका। अब दिगम्बरों के सिद्धान्त का निराकरण किया जा रहा है। दिगम्बर आम्नाय के सप्तभंगी आदि विषयों पर हमारा कथन है कि ऐसा मानना उचित नहीं है। क्यों? एक धर्मी में एक साथ सत और असत् आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश सम्भव नहीं है। शीत और उष्ण के समान। जो यह सप्त पदार्थों का निर्धारण किया गया है वे उतने और उस रूप में वैसे ही हैं अथवा नहीं हैं। प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि वे उस निर्धारित रूप में ही हैं अथवा अन्य रूप में यह अनिश्चयात्मकज्ञान संशयज्ञान के तुल्य ही अप्रमाण होगा। यदि कहते हो कि यह वस्तु का अनेकात्मक (अनेकान्तरूप) कथन निर्धारित रूप ज्ञान होने से संशयज्ञान के समान अप्रमाण नहीं हो सकता तो हम कहेंगे—नहीं। निरकुश अनेकान्त को सम्पूर्ण वस्तुओं में आरोपित करोगे तो वस्तुत्व का विशेष प्रकट नहीं हो सकेगा। स्यात् अस्ति, स्यात्नास्ति इत्यादि विकल्पों का उपनिपात तो अनिर्धारणात्मकता को ही व्यक्त करेगा। इस प्रकार निर्धारणकर्त्ता तथा निर्धारण फल की स्यात् अस्तिता हुआ करेगी, स्यात् नास्तिता हुआ करेगी। ऐसा होने पर प्रमाणभूत तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितियों की अनिश्चयात्मिकावस्थायें कैसे उपदेश में समर्थ होंगे? और तीर्थंकर के अभिप्राय का अनुसरण करने वाले उस उपदेश से, जिसका रूप ही अनिर्धारित है किस अर्थ में प्रवृत्तिशील होंगे? हां, यदि ऐकान्तिक फलत्व निर्धारित हो तो उस साधनानुष्ठान के लिये सम्पूर्ण लोक निराकुल प्रवृत्तिमान होगा, अन्यथा नहीं। इसलिये अनिश्चितार्थ शास्त्र का निर्माता मत्तोन्मत्त के समान अनुपादेयवचन (अग्राह्यवाक्) होगा। वैसे ही पाँच अस्तिकायों की पंच संख्या है, अथवा नहीं, ऐसा विकल्प करने पर (आपके स्यादस्ति स्यान्नास्ति के अनुसार) एक पक्ष में है और एक पक्ष में नहीं है—इस प्रकार न्यून और अधिक संख्या प्राप्त होगी। ये पदार्थ अवक्तव्य हैं,

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि अवक्तव्य हों तो उच्चारित नहीं हो सकते। उच्चारण में भी आते हैं और अवक्तव्य भी हैं, ऐसा तो विप्रतिषिद्ध (तुल्यबलविरोध) है। और उच्चारण किये जाने पर उनका अवधारण (तदर्थप्रत्यय) वैसा ही होता है अथवा नहीं ? और भी, कि उनके अवधारण का फल सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं ? इसी प्रकार उससे विपरीत असम्यग्दर्शन भी है किंवा नहीं है ? इत्यादि उन्मत्त प्रलापवत् ही होगा। किसी विश्वसनीयता का स्थापक नहीं। स्वर्ग और मोक्ष का भी एक पक्ष में भाव होगा, एक पक्ष में अभाव होगा। एक पक्ष में अनित्यता होगी—ऐसी निश्चयता विहीन स्थिति में लोक प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनादिसिद्ध जीवादिका जो शास्त्र द्वारा निर्धारित स्वरूप-स्वभाव है, उसमें भी वैपरीत्यप्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्मी में विरुद्ध सत्व-असत्व धर्मों के असम्भव होने से यह आर्हतमत असगत है। इतने मात्र से एक अनेक नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त अव्यतिरिक्त, आदि अनेकान्त अभ्युपगत विषय निराकृत मान लेने चाहिये। और जो यह 'पुद्गलसंज्ञक अणुओं से संघात होते है, यह कहते हैं, उसका हमने अणुवाद निराकरण प्रसंग में प्रत्याख्यान कर ही दिया है, अतः पृथक प्रयत्न अनावश्यक है।''—

श्री शंकराचार्य अपने शांकर भाष्य में 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए बहुत मोटी गल्ती कर गये है। जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को ठीक समझकर शांकर भाष्य देखा है, वे शंकराचार्य के भक्त होते हुए भी उनकी गल्ती स्वीकार करते हैं:—

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के दर्शन विषय (फिलासफी) के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक श्री फणिभूषण जी अधिकारी का कथन हैं—

''जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुष के लिये क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।

श्री महा महोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्र जो शास्त्री प्रोफेसर संस्कृत कालेज बनारस लिखते हैं—

''मैं कहाँ तक कहूँ बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन देख हँसी आती

है, स्याद्वाद यह जैन धर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।"

जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्व ज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।

इण्डिया ऑफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० थामस के उद्‌गार बड़े महत्वपूर्ण है वे कहते है कि—

"न्यायशास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।"

भारतीय विद्वानों में विख्यात निष्पक्ष आलोचक एवं सरस्वती पत्रिका के सम्पादक स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

'प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जनते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इङ्गलैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को, जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनों के धर्म ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रगट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।'

महात्मा गाँधी जी लिखते हैं—

'जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ, उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।'

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी लिखते हैं—

"अनेकान्तवाद या सप्तभंगीन्याय जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सात में कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को यह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिये एक ही समय में है और नहीं है, दोनों बातें कैसे कहीं जा सकती है, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तु स्थिति तो ऐसी ही है।"

श्री डा० एस० बी० नियोगी एम० ए० एल० एम० एल एल० बी० भूतपूर्व चीफ जस्टिस नागपुर हाईकोर्ट तथा उपकुलपति नागपुर विश्वविद्यालय, लिखते हैं—

जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Reveiation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया। जिसके कारण मानव इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है। ·········स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। ·········सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे। — जैन शासन पृ० २४–२५ ॥

श्री डा० गंगानाथ जी झा प्रयाग विश्वविद्यालय लिखते हैं—

'जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा। और जो कुछ अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़–विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।'

श्री प्रो० आनन्द शंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं —

महावीर के सिद्धान्त में बताए गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नही मानता। स्यद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैन धर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है।

शंकराचार्य और स्याद्वाद

'आचार्य शंकर ने जैनों के स्याद्वाद को 'संशयवाद' तथा 'अनिश्चितवाद' की संज्ञा दी है। उसका कारण यह है कि उन्होंने 'स्यादस्ति' का आशय 'शायद' के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु आचार्य शंकर के इस मन्तव्य को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते हैं। वे वस्तु को अनेक धर्म (गुण) वाली कहते हैं और 'स्यादस्ति' के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिये स्याद्वादी सिद्धान्त का समर्थक विद्वान् किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा होता है।

शंकराचार्य ने जो यह शंका व्यक्त की है कि एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य धर्म नहीं रह सकते हैं उसका उत्तर ऊपर के उदाहरण में दिया जा चुका है। अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म अपेक्षा भेद से रहते हैं। उदाहरण के लिये केन्द्र में बैठा हुआ व्यक्ति, उसके चारों ओर खड़े हुए व्यक्तियों की अपेक्षा भेद से भिन्न-भिन्न दिशाओं में बैठा हुआ सिद्ध होता है। उसी प्रकार पदार्थ के नित्यानित्य धर्मों में कोई विरोध नहीं आने पाता। छोटी और बड़ी वस्तुओं का छोटापन और बड़ापन अपेक्षा भेद से है।'

—भारतीय दर्शन पृष्ठ ११६ ले० वाचस्पति गैरोला प्रयाग

'इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'

—संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ १३७

'सिद्धिरनेकान्तात्'— (शब्दार्णव चन्द्रिका, सोमदेवसूरि)—१ सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्। अस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व विशेषण विशेषाद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्ट प्रमाणाविरुद्धादा-शास्त्र परिसमाप्तेरित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। वक्ष्यति— सात्मेतादिरिति'-अनेकान्ताधिकारे सत्येवाद्यन्त व्यपदेशो घटते अन्यथा तदभावात् किं केन सह गृह्येत् यतः संज्ञा स्यात्।"

अनेकान्त से सिद्धि होती है। अर्थात् शब्दों की निष्पत्ति अथवा ज्ञप्ति अनेकान्त से होती है। अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, विशेषण और विशेष्य आदि अनेकान्तात्मक हैं अतः इष्ट प्रमाण से अविरुद्ध दृष्टिगोचर होने से इस अनेकान्त का अधिकार इस (व्याकरण शास्त्र) की परिसमाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये। जैसा कि आगे कहा जायेगा। 'सात्मेतादि' (सूत्र) जिसका अर्थ है 'इत्संज्ञक के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने सहित उनमध्यपतित वर्णाक्षरों का ग्राहक होता है' अर्थात् 'अण्' यह प्रत्याहार है। इसमें 'अ इ उ ण्' सूत्रान्तःस्थ वर्णों का ग्रहण है। प्रथमाक्षर अ और अन्त्य ण् के मध्यवर्ती 'इ—उ' का ग्रहण भी होता है। यह अनेकान्त अधिकार होने पर ही घटित हो सकता है अन्यथा उसके अभाव में किससे किसका ग्रहण किया जाए कि संज्ञा का निर्माण हो।

'सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२ ॥

—आचार्य समन्तभद्र युक्त्यानुशासन

'हे तीर्थंकर महावीर, आपका ही यह धर्मतीर्थ सर्वोदय सर्व अभ्युदयकारी है अन्य का नहीं क्योंकि गौण-मुख्य आदि सर्व-धर्मात्मक और परस्पर निरपेक्ष होने से शून्य भी है। हे भगवन्! आपका यह तीर्थ समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाला और स्वयं भी अन्त रहित है।'

अनेकान्त और स्याद्वाद

विश्व के प्राणियों में विचार-भिन्नता दृष्टिगत होती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं। क्योंकि व्यक्तियों का चिन्तन स्वतन्त्र और बहुमुख होना स्वाभाविक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के भिन्न चिन्तन को विरोध की दृष्टि से देखेगा तो उसका ज्ञान अपने चिन्तन में ही सीमित रह जायेगा और बद्धमूल होने पर वह एकांगी विचार पारस्परिक द्वेष और असहिष्णुता को उत्पन्न करेगा अतएव ज्ञान की समस्त उपासना चाहने वाले को अपने और विरोधी दोनों दृष्टिकोणों पर चिन्तन करना होगा। 'स्यात् यह घट है ऐसा अनेकान्त विमर्श सत्य बिन्दु को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो। जैन धर्म में अनेकान्त दर्शन इसी एक भिन्न 'स्यात्' की प्रतीति में सहायता पहुँचाने वाला तात्विक विमर्शपथ है।

स्याद्वाद—स्यात् और 'वाद' इन दो पदों से बना है। 'स्यात्' विधिलिङ्ग में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है[1]। न तो यह 'शायद' न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है किन्तु 'सुनिश्चित' दृष्टिकोण का वाचक है। (A Particular point of View)।

यह अनेकान्त दृष्टि सम्यग्दर्शन है, समस्याओं के समाधान का रत्नपुलिन है। इससे भिन्न विचारों पर आक्रोश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आक्रोश अथवा उत्तेजना अपने लघुत्व से उत्पन्न होती है। उसके स्थिर चित्त में इन विसंवादों से चलित भाव नहीं आता प्रत्युत अर्थ की सर्वांग-पूर्णता प्रतीत कर और अधिक दृढ़स्थैर्य प्राप्त होता है—

'सापेक्षाहि नयाः सिद्धा दुर्नया अपि लोकतः।
स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासितम्॥'

—सिद्धिविनिश्चय् १०।२७॥

वस्तुतः सिद्धनय वे ही हैं जो अपेक्षा जनित हैं। वैसे लोक व्यवहार से दुर्नयों का साधन भी किया जाता है। जैसे कुक्कुट का ग्राम में बोलना। यद्यपि कुक्कुट ग्राम के किसी एक प्रदेश विशेष में बोल रहा

---

१ वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥

—आप्तमीमांसा, १०३॥

है तथापि उपचार से कह दिया गया कि कुक्कुट गाँव में बोल रहा है। यह निरपेक्षनय लोक व्यवहार से है। अथवा अन्य उदाहरण—'वृक्ष कपिसंयोगी' कपि किसी वृक्ष की एक शाखापर बैठा है, पूरे वृक्ष से उसका संयोग नहीं है, तथापि कपि वृक्ष पर बैठा है, ऐसा लोक व्यवहार प्रक्लृप्त व्यवहार है, दुर्नय है—

समर्थवचन—

'समर्थवचनं जल्पं चतुरंगं विदुर्बुधाः।
पक्ष निर्णय पर्यन्तं फलं मार्ग प्रभावना।
—सिद्धिविनिश्चय, (अकलङ्कदेव) २

स्व पक्ष साधन में समर्थवचन को चतुरंगवाद या जल्प कहते हैं : उसकी अवधि पक्ष निर्णय पर्यन्त है और फल मार्गप्रभावना है।

चतुरंगवाद—वाद के चार अंग हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। यह विवाद चर्चा का एक प्रमुख विषय है। वाद का प्रयोजन 'तत्व ज्ञान की प्राप्ति अथवा प्राप्त तत्व ज्ञान की रक्षा माना गया है। वादी प्रतिवादी आदि अंग चतुष्टय द्वारा निर्णीत होने से वाद को चतुरंग कहा है। इस चतुष्टय में कोई मतभेद नहीं है तथापि साध्य-साधन प्रणाली में मतभेद है। वाद का प्रयोजन निष्कर्ष की प्राप्ति है। यह वाद न्याय परम्परा तथा जैन परम्परा मे द्विविध विभक्त है। न्याय परम्परा का वाद छल प्रयोग द्वारा भी अपने प्रतिवादी को परास्त करने की इच्छा रखता है परन्तु जैन परम्परा तत्व-शोध निर्णय को मुख्य मानती है अतः विजिगीषा रखते हुए भी न्यायरीति का अनुसरण करना उचित मानती है। वाद का अन्तिम परिणाम जय-पराजय है। इस जय अथवा पराजय की स्थिति मे भी अहिंसक दृष्टिकोण को ही जैनाचार्य अकलंकदेव ने महत्व दिया है।

उपसंहार

पदार्थ विचार तथा यथार्थ तात्विक निर्णय स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं वह अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती है।

अतः बुद्धि विकास, यथार्थ निर्णय, पारस्परिक विवाद-निवारण के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त परम उपयोगी हैं। अनेकान्तवाद, सप्तभङ्गीवाद, 'स्याद्वाद' के ही नामान्तर है।

'नै अनन्त इह विधि कही, मिलै न काहू कोई।
जो सब नै साधन करे, स्याद्वाद है सोई॥—७
—नाटक समयसार, बनारसीदास॥

नय अनेक है, कोई किसी से नही मिलते, परस्पर विरुद्ध है और जो सब नयो को साधता है, वह 'स्याद्वाद' है।